केस खिंचाय पांचै वटायो चिर
लाज रखाय प्रायौ प्रहीर ।।

बिन बिज धनुर छवै स निपजायो
स्वकर नामहेन चप्पर छायो ।

गोप गोपिन [illegible] प्रेम उपजायो
उर विरह दृगदर्स तरफ उपजायो

चैन न चितचोर चित चुरायो ।
निस दिन तरफन विरही दिल [illegible]
दाम्यो ।

सिध नाग नागर प्रंत दर्स दियो
दर्स मोल मेरे से [illegible] न चाहो ।।

१७०४

ब्याध गनिका अजामिल तार्यौ
अराज साधनहित तार जस ल्यौ ॥

सारथि बन अर्जुन रथ डोर सम्भार्यो
मम जीवन रथ डोर सम्भारौ

~~[illegible]~~ जदपि अधम सुकृतन पुञ्ज मेरो ।
पर यह सम्भव सिर्फ अनुग्रह तेरे ॥

मेवा मिष्टान रख ~~चटकार~~ चटोरो भायौ ।
अराज हारो रिसौ भोग न भायौ ॥

जगतपिता जब दुर्जन जस कमायौ ।
अराज आ जब संग अपराधौ ॥

अगुनाकुबेर कसहो क्यों रह्यौ ।
कृपासिन्धु कृपनको हो रह्यौ ॥

भगतन हेत तनक डायो नौका।
रैदास संग कूद्यौ चमरका।।

अब काज सदा सारतो आयो।
फिर आज क्यों बिरद बिसरायो।।

अधमन तारन सदा कहलायो।
मेरी बेर क्यों निसठुर भयो।।

सदा पुकारन दयाल कहायो।
अनाथ अनन्त दर्स दै सनाथ कियो।।

महादानि कर लुकान लेना।
अन्त समय तिंकरें दर्स दै देना।।

(1710)

सत्संग 65

9/4/83 बिखरे मोती

मन- बलात्कार से वश में होता। समझाने से नियम में आता है। मन को लेकर जुड़ रहने से सदा नाम सुमिरन में लगाये रहे। गुरु कृपा से मिलते ही नाम सुमिरन में लगावे।
प्रभु प्रेम एक लयों का [illegible] प्रभु से मिलन है जिसकी पूर्ति प्रेम की सहायता से होती है।
मन तो निरन्तर कल्पना ही दुख निवारण की प्रभु कृपा है।

सेवा- कोई भी नीची सेवा का मौका मिल जाये तो प्रभु की कृपा समझना। सम्पर्क में आने वाले प्राणी मात्र की सेवा करना। जिसकी सेवा की जाय उसके हित पर ध्यान रखना।
रोटी के लिये तड़पते दरिद्रों में भगवान का वास है उनकी सेवा करो।

सेवा की भावना बढ़ती रहना ही
सेवा का फल समझो।

नाम

किसी के प्रति प्यार का मुख्य लक्षण यह है
कि हर दम उसका नाम होठों पर रहे। हरिनाम
और हरि अभिन्न हैं। किसी भी सांसारिक
पदार्थ नाम की तुलना करना सर्वथा
अनुचित है

जप

श्री राम जय राम जय जय राम इस त्रयोदश
अक्षर का तेरह करोड़ जप बिना किसी विधि
के भी किया जाय तो भगवद्दर्शन होंगे।
मन यदि वश में नहीं है तो उसे छोड़ दो।
वाणी संयम कर नाम जपते रहना चाहिए
जप की ध्वनि वायु मंडल में विलीन होती रहती है
जप साधना का प्रारंभ में हमेशा बोलती
(ध्वनि) जप से ही होता है। शनैः शनैः
अभ्यासिक होता। फिर मानसिक हो जाता है
माला के बिना भी जप किया जा सकता है
घर के किसी एकान्त स्थान में घड़ी सामने रख
कर कम से कम एक घंटा और ज्यादा
से ज्यादा तीन घंटे लगातार किया

जा सकता है। इसमें धूप दीप को हवन करें। अतः जप के पहले लो सामग्री का नहीं। जप के समय ध्यान रहे श्वास का दुरुपयोग भी न करें। बारह वर्ष में लाभ ~~होगा~~ मालूम होगा। उपरान्त बारह वर्ष में यह विश्वास होने लगेगा कि यह जगत एक पूर्ण निश्चित दृश्य है और अन्तः करण की तरंगें शान्त हो जायेंगी। एकान्तवास ही इसका दृढ़ पाठ है। साधना के फल स्वरूप साधक को अपने में आनन्द लगता है। वाणी के द्वारा जप की अपेक्षा मानसिक जप से दुगना आध्यात्मिक लाभ प्रदायक है। भजन वह दृढ़ भूमि है जहाँ संतोष रूपी वृक्ष उपजता है और परोपकार रूपी फल ही बन जाता है। उच्च स्वर के कीर्तन से वाणी का पाप धुल जाता है। चित्त शान्त करके जप करने से प्रभु स्वयं आपके पास हो जायेंगे।

[illegible] से लोग संन्यास लेने के प्रमुख कारण हैं: (1) निर्धनता और जीवन से [illegible] (2) बैर, शत्रुता और किसी से बदला लेने की भावना [illegible] गुरु द्वारा प्रेरणा (3) सम्पत्ति [illegible] निन्दा (4) शारीरिक अपराध कर्म करना (5) लाभ के बल पर शारीरिक परिश्रम करने से (6) नाम न होना, दुख में अपने [illegible] की कल्पना (7) अन्य साधुओं से अपनी तुलना करना (8) अध्यात्म लाभ प्राप्त कर नाम को ऊँचा करना।

**स्नेह** - किसी सांसारिक जीवन से अरुचि होने के कारण।

**बदला** - दुर्भाग्य [illegible] हमारे बुरे प्रारब्ध का ही फल होता है अतः अपनी हानि करने वालों के प्रति बदले की भावना त्यागें।

**संग्रह** - ऐसा न हो कि साधु बनने पर भी [illegible] संग्रह में ही [illegible] साधु [illegible]

**क्रोध** - क्रोध तो एक ऐसा विकार है जो अपने [illegible] चित्त को बिगाड़ता है। मनुष्य [illegible] से दूर हो जाता है और सरलता एवं शीघ्रता से [illegible] हो जाता है। क्रोध

(1714)

रखने का उपाय है सर्वत्र मंगलदर्शन।

मृत्यु — मृत्यु को स्वीकार कर स्वयं प्रभु ही आते हैं। अतः मृत्यु की भयानकता में प्रभु के सौन्दर्य माधुर्य एवं रूप सुधा का पान करके उनके चरणों में अपने को समर्पित करना और उनसे घुल मिल जाना चाहिये।

सत्संग — जीवित मनुष्य से या प्रभु या तद्भक्तों के चिन्तन विचार और चर्चा से दूर रहे हर कुमार्गी हमारा प्रतिकूल गुरु है।

कुमार्गी

कामना — जिस विषय की कामना करता है वह उसी विषय में लीन होता है। किन्तु वस्तु की प्राप्ति प्रभु के विधान से होती है कामना से नहीं। अतः प्रतिकूल होने पर दुखी होना प्रभु के विधान का अनादर करना है। निष्कामता कामना के त्याग से होती है कर्म से नहीं। संयम का अभ्यास और स्वार्थ का त्याग परमार्थ का रूप है। अतः दोष दर्शन का त्याग दो

**नीयत** — नीयत से प्रवृत्ति होती है सो सब तुलना है नीयत स्वभाव है से ही सब कुछ होजाता है

**चिन्ता** — जब चिन्ता मन में सब प्रभु को सौंप दो पुरुषार्थ चिन्ता न सताये तब प्रभु की प्रसन्नता समझो।

**दान** — सैकड़ों हाथों से कमाओ और हजारों हाथों से बाँटो। अपने को ट्रस्टी समझ कर दीनों का आदर्श पोषण करो। दाता पन का अभिमान, एहसान और बदले की इच्छा मत रखो। दान या संकल्प की हुई ~~वस्तु~~ वस्तु को घर में मत रखो एवं उसको प्रसिद्ध भी मत करो।

**सुख और दुःख** — सुख, सेवा का और दुःख, त्याग का पाठ पढ़ाता है अतः सुख में उदार एवं दुःख में विरक्त रहना चाहिये।

प्रभु जिसे अपनाते हैं उसको कर्म-डोर से छुड़ाने के लिये एवं उसके पूर्वकृत पापों को क्षय करने के लिये उसे नारकीय यातनाओं का भोग भी भुगवाने लगते हैं। दुःख तो प्रभु आगमन का

(ग 16)

संदेह नाहिन है।

जेकरे आधार आहा, तार करि सर्व नाव
तबु जेन छाड़े आह, ताके करिदास सनुदास
पुनि के माथे लिखपरे, जो नाथ हृदय सिया
बसे हरी ना दुःख की, जो पल पल नाम रटय

प्रभु से योगक्षेम – अप्राप्य की प्राप्ति का नाम
योग है एवं प्राप्त की रक्षा का नाम क्षेम
है। पारमार्थिक योग क्षेम का अभिप्राय
यह है कि आवश्यक प्राप्त साधन-सम्पत्ति
एवं कमी की पूर्ति प्रभु अवश्य करते
हैं। इसी तरह सांसारिक सम्पत्ति एवं
कमी की पूर्ति भी प्रभु ही करते हैं।

प्रभु से याचना – आप प्रभु से कुछ माँगते
मत उससे बड़ा दुःख होगा कि मैं
इतना अयोग्य, इतना पामर, इतना
कपट-कपटता हूँ कि मेरे स्वजनों
को माँगना पड़ रहा है।

आप का तो भाव रहना चाहिये कि
हे प्रभो! मैं तो कामनाओं से रहित
हूँ अपने संतुष्ट हूँ। मेरे मन में

कोई कामना उठे ही नहीं यही कृपा करें। ज्यों प्रह्लाद ने वरदान मांगा था कोई कामना मेरे मन में न उठे।

मांगें सिर्फ उनकी भक्ति, उनके दर्शन, उनके चरणों में जन्म-जन्मान्तर अनुराग।

संसार में क्रिया की अपेक्षा भावना ही प्रधान है।

प्यास — प्रभु प्राप्ति हेतु जो हृदय में व्याकुलता है उसी का नाम प्यास है। इस प्यास के बिना प्रभु प्राप्त नहीं होते। ज्ञान की प्यास का नाम जिज्ञासा है, और प्रभु प्राप्ति की प्यास का नाम भक्ति है। यह प्यास तब तक है जब प्रभु प्राप्ति के लिये आँसू गिरें। भक्ति का आरम्भ इसी प्यास से होता है। प्रभु तो सबकी ओर देखते ही हैं, हम उसी को, और सिर्फ देखें इसी से आनन्द है।

1718

**वासना**— वासना बहुत ही बुरी है। किन्तु हरदम इस बात की वासना बनी रहे कि प्रभो! मैं तेरे पद कमल में प्रेम करूँ, श्रद्धा-पुष्प फिरने से, तेरे मुखड़ा निहार पाऊँ॥

**आग्रह**— आग्रह की जड़ काटते हुए मार्गदर्शन बुद्धि से ही स्थापना करनी चाहिये। जैसे मनोविज्ञ आग्रह को जीविकोपार्जन से ही शक्ति का उदय होता है उसी प्रकार वास्तविक दैन्य, आग्रह प्रभु की अमोघ कृपा पर विश्वास से ही निर्भयता एवं प्रभु की कृपा होती है। जैसे पनिहारिन सिर पर जल भरी घड़ा रखे चली जाती है तब उसका ध्यान घड़े पर रहता है ऐसे सब काम करते हुए ध्यान हमेशा प्रभु पर ही रखनी। आग्रहिनता से नैतिकता बढ़ाने का प्रयास करें। अपना मन प्रभु को समर्पित कर उसी के अनुकूल हो जा। हर घटना में उसी का हाथ देख

औ राह में पड़े हुए तिनके से भी अपने को नीचा मानता है, वृक्ष से भी अधिक सहनशील हो, मान न चाह कर दूसरे को मान देता हो उसी के द्वारा प्रभु का सत्य कीर्तन होता है।

कर्मी साधक तभी बनते हैं जब आसक्ति, कामना, ममता, अहंता से शून्य हो कर कर्तव्य पर और आत्मानुरूप होते हैं

विश्वास — किसी भी परिस्थिति में प्रभु की प्राप्ति से निराश न होना। जो साधक से बन पड़े और सुगमता से हो उसी को करो। प्रभु अपने भक्त को बहुत प्रेम करते हैं प्रभु की अहैतुकि कृपा और सौहार्द पर विश्वास करके जीवन में उनके अनुकूल आचरण करने से शान्ति मिलती है। शबरी को कई हजार बीत गये प्रतीक्षा करते करते कि प्रभु आवेंगे अवश्य। विश्वास का धरातल जीवन को एक दिशा और होस चेतना प्रदान करता है। प्रभु पर विश्वास का प्रकाश सब प्रकार के

1720

अभिमान ही प्रभु का ईश्वर को दूर करता है संग्रह प्रभु प्रति विश्वास में विघ्न है।
यदि भक्त सच्चे हृदय से और भाव से आगे हो प्रभु की ओर एक कदम रखता है तो प्रभु उसकी ओर सौ कदम दौड़ता है।
प्रभु के भक्त का कभी पतन नहीं होता।
विश्वास जागृत होते ही शक्ति और भक्ति का जन्म अपने आप हो जाता है।

अनन्यता — ध्यान बुद्धि यानि मस्तिष्क का और प्रेम यानि भक्ति हृदय का विषय है प्रेम से ही भक्ति उपजती है। साधक का हृदय अपने इष्ट के जिस भी स्वरूप पर आसक्त हो जाय भूलि पतंग भृंग की तरह मन वचन कर्म से उसी रूप की साधना करते रहना ही अनन्यता है। जैसे भाव भक्त उसी स्वरूप को हरि शरणम्, हरि स्मरणम् हरि चरणम् में रह

दम बना रहे। हृदय में अन्य किसी भी स्वरूप, प्रभु का विग्रह को स्थान न दे जिस तरह एक म्यान में दो तलवार नहीं रह सकती किन्तु अन्य किसी भी स्वरूप, प्रभु या विग्रह का अपमान नहीं।

वाणी – वाणी के दोष से ही झगड़ा होता है। वाणी पर संयम रखे। मौन की बड़ी कीमत है। जिह्वा प्रभु नाम एवं गुणगान के लिये इस्तेमाल होना है।

त्याग और वैराग्य – त्याग देह से और वैराग्य मन से होता है। वैराग्य भाव से ही त्याग करें।

१६ दैन्य – एक मात्र प्रभु कृपा पर ही निर्भर होकर स्वयं साधनहीनता का अनुभव करना ही दैन्य है। हरि कृपा वहीं होगी जहाँ दैन्य होगा।

शरणागति – यह अचूक प्रयत्न है। विश्वास पूर्ण, सहज और स्वाभाविक होना चाहिये।

(1722)

सम्मान — सम्मान आग्रह की है वर प्रभु की भक्ति से स्वतः प्राप्त होता है। कभी सम्मान में आसक्ति न रखना।

प्रार्थना — जिसे लोग यांत्रिक प्रक्रिया कहते हैं वह असल में चित्त पर श्रद्धा की पुट चढ़ा कर उसे मजबूत बनाने की साधना है। प्रातः नित्य प्रार्थना से आस्तिकता बढ़ती है और दृढ़ता आती है। जब तक मांगें हैं प्रार्थना प्रभु के लिये नहीं। यहां तक कि प्रभु के लिये भी मांग नहीं होती तभी प्रार्थना परमात्मा से युक्त होती है। प्रार्थना में प्रेम और आत्मदान होना चाहिये।

प्रभु समर्पित जीवन — केवल प्रभु ही मेरे हैं और मैं केवल प्रभु का ही हूं। मैं (अहम्) रूपी अहंकार का नाश करके प्रभु कृपा का ही आश्रय लेकर उस भक्त का सहज स्वभाव बन जाता है। इस प्रकार के जीवन में किसी भी सांसारिक भोग पदार्थ की भावना नहीं रहती, भोगों की कामना

नहीं रहती। प्रभु मेरे द्वारा जो करा रहे हैं वही ठीक है। प्रभु का विधान जो है वही न्याय है वही मेरे लिये मंगलदायक है। जैसे विधि शास्त्र सम्मत और विधि शास्त्र से [illegible] प्रवृत्ति रूप हैं [illegible] अवलम्बन कर प्रभु की ही शरण रहना है। [illegible] में उन की भावना रहती है कि यह काम प्रभु को प्रिय है या नहीं।

प्रभु से सम्बन्ध — भगवत्प्राप्ति प्रत्येक जीव का जन्म सिद्ध अधिकार है। रस और भजन का आधार है निज सम्बन्ध है। प्रत्येक जीव को प्रभु के साथ अपना व्यक्तिगत सम्बन्ध रखना ही चाहिये। [illegible]

शान्त — सब रसों में नीचा है कारण यह वैयक्तिक सम्बन्ध पर आधारित नहीं।

दास्य — दास मर्यादा से नियन्त्रित रहता है अतः अपना हृदय खोल नहीं पाता।

1724

सख्य – गौरव के द्वारा उत्पन्न व्यग्रता के स्थान पर विश्वास और प्रेमपूर्ण झगड़ा (विश्रम्भ) भावुक निकलने लगता है।

वात्सल्य – विभूति दर्शन का ध्यान नहीं होता। सम्भ्रम (उद्वेग, मान, आतुरता) और विश्रम्भ (प्रेमपूर्ण झगड़ा) के लिये स्थान नहीं। स्वभाविक रति होती है।

कान्त भाव – (माधुर्य) न मर्यादा न संकोच। साधक के चित्त पर भगवद्विषयक चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है। जीव न स्त्री है न पुरुष और न नपुंसक ऐसे ही प्रभु भी न स्त्री है न पुरुष, न कुमार न कुमारी। अतः भक्त और भगवान के बीच सभी प्रकार का सम्बन्ध संभव है।

आत्मनिवेदन – तदीयता, तन्मयता। अपने पन को मिटा देना।

भक्त – भक्त होने का अर्थ समाज को भूल जाना नहीं बल्कि नारायण समझना

दीनता –

विरह –

दर्शन – श्री रामजी का साक्षात्कार पाने के लिये नियम से सम्पुट लगा कर 108 बार सुन्दरकाण्ड – चाहे लगातार, चाहे नवाह, चाहे तीन दिन में, चाहे एकाह। दर्शन अवश्य होता है।

'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन कृपा करहु प्रनतारति मोचन।'
(1 – 146)

भक्ति में विघ्न – स्त्रियाँ आदि निद्रा में बाधाएं लय कीर्तन, श्रवण, स्मरण करते समय निद्रा आना।

विक्षेप – कीर्तन, श्रवण, स्मरण करते समय व्यवहार की बातें करना।

अप्रतिपत्ति – कीर्तन में असमर्थ हो जाना।

कषाय – विषयों में सुरति रहने के कारण कीर्तन आदि में मन न लगना।

रसास्वाद – कीर्तन आदि में कोई लौकिक सी ही आदि का उत्पन्न होना।

(1726)

रुचि- दो प्रकार की
बहिरंग - नाम गुण गायन, रूप लीला कीर्तन आदि में ताल, स्वर, लय की, तथा भगवत् चरित्र कहने सुनने देखने में अलंकार आदि का विचार, और सेवा में देश काल पात्र द्रव्य आदि का विचार करना बहिरंग रुचि है।
अंतरंग - उपरोक्त किसी भी भगवद् विषयक कार्यों के समय उपरोक्त किसी का भी विचार नहीं होना, नाम गुण रूप लीला में एक मात्र गोता खाते रहना अंतरंग रुचि है।
बहिरंग तो गौण है किंतु अंतरंग रुचि मुख्य है। अंतरंग रुचि वाले को प्रभु के चरितामृत लीलामृत के सिवाय कुछ भी नहीं सुहाता। भगवत्प्राप्ति के विचार में ही पागल रहता है मुझे प्रभु मिलेंगे या नहीं उठते बैठते खाते पीते सोते यही विचार में डूबा रहता है प्रभु प्राप्ति के लिये यह आतुरता ही

यह आसक्ति है उक्त दशा को प्राप्त होने
पर मानव यानि विरक्त होता है।
फिर प्रभु प्राप्त न होने पर विरह
उदय होता है फिर आसक्ति पूर्ण में
प्रेम उदय होता है और मन और सिमट
कर एक धार होकर प्रभु के रूप में
लय हो जाता है। भजन में तीव्र और प्रौढ़
रुचि जब प्रभु को ही अपना एकांत विषय
बना लेती है उसे ही आसक्ति कहा जाता है

## प्रेम भक्ति और साधना—

पहले हृदय में प्रेम का अंकुर
उत्पन्न होता है फिर प्राप्त करने की
इच्छा होती भक्ति का रूप धारण करती
है फिर प्राप्त करने की चेष्टा होती है
वही साधना है। ज्यों ज्यों साधना
प्रगाढ़ होती जाती है भक्ति और
प्रेम प्रगाढ़ होते जाते हैं।

(1734)

**प्रेम**

मनुष्य जिसको अपना समझता है उससे उतना ही अधिक प्रेम भी वह करता है। प्रभु को ही एकमात्र अपना मान लेने से ही उनमें एकान्तिक प्रेम होगा और एकान्तिक प्रेम ही एवं है प्रभु से मिलने की उपाय है। वह क्रिया-साध्य नहीं है किसी प्रकार की योग्यता एवं साधना से नहीं मिलता है। प्रभु प्राप्ति प्रभु कृपा से ही होती है और यह कृपा प्रेम से ही मिलती है। जब प्रियतम को पता चलता है यह मेरा सच्चा प्रेमी है तो वे उसके प्रेमी बन जाते हैं और वह प्रेमी भक्त प्रभु का प्रियतम बन जाता है।

प्रेम में भी एक क्रम है - पहले राग फिर प्रियतम की स्वीकृति और इसके बाद त्याग या बलिदान है। सहनशीलता ही प्रेम की प्रकृति है। इसमें कामना को स्थान

नहीं लेना ही जानता नहीं बल्कि देना ही देता है - प्रेम महान् बलिदान की शक्ति देता है - अमरत्व है - इसमें तर्क वितर्क नहीं होती है। यह अपमान या दुर्व्यवहार से प्रभावित नहीं होता प्रेम और ज्ञान में बाल-बराबर किन्तु दृष्टिकोण में महान अंतर ज्ञान स्वार्थमय और अपना ही सुख चाहने वाला है किन्तु अपने प्रियतम यानि प्रभु को ही सुख देने की दृष्टिकोण प्रेम की है - जैसी गोपियों की थी।

चाखा चाहे प्रेम रस, राखा चाहे मान।
एक म्यान में दो खड्ग देखे सुने न कान।

चाहे हम कोटि कोटि कष्ट सहलें पर हमारे प्यारे प्रभु को क्षणभर भी कष्ट न होने पावे। ऐसे विजय भाव के साथ साथ पवित्र भगवत्प्रेम करना बुद्धिमत्ता है वह प्रेम में है, भूल में है।

1730

इसी लिये विषयीलोग प्रभु
को विजय प्राप्ति का साधन समझ
कर प्रेम करते हैं अतः वे पा नहीं सकते
किन्तु साधक प्रभु को प्रसन्न
रखने मात्र साधन समझते हैं
अतः समय पर पा लेते हैं।
जब हृदय में प्रभु प्रेम की पीड़ा
जागती है तब यह होश ही नहीं
रहता कि किससे पता पूछूं जानते
नहीं। प्रेम की गति का नाम नृत्य
है और प्रेम की बोली है संगीत
मनुष्य साधारणतया सम्पत्ति
सुख की इच्छा करता है अतः सुख
मांग कर ही सुखी रहता है कि सुख
परमानन्द से उनके अनन्त सुख में
डूबा रहना चाहता है कारण वही
परमानन्द सिन्धु जहां से सच्चा सुख
का स्रोत बहता है।
प्रेम का यह नियम है प्रेम
पात्र पर ही होता है अतः हम उनसे

प्रेम करेंगे तो वह प्रभु उनसे कई गुना
प्रेम हमसे प्रत्यक्ष करेगा। यह उसका
विरद है। जीवन के हर कदम में यदि हम
हरि शरणम्, हरि स्मरणम्, हरि चरणम्
रहेंगे तो वह प्रत्यक्ष ही हमारे जीवन
रथ का सारथी भी बना रहेगा। और
हम उस के आनन्द भूल में डूबे रह सकेंगे।

जब तक भोगों में सुख की प्राप्ति
करते रहेंगे, प्रेम की सम्भावना कहाँ?
जब विश्वास करके जीव मान लेता
है कि मैं प्रभु का ही हूँ तभी उसे प्रभु-
प्रेम मिलता है।

प्रभु-प्राप्ति की जितनी तीव्र
लालसा, एकान्तिक मिलन की विकलता
ही प्रभु मिलन कराती है उतनी और
कुछ भी नहीं। अतः निरन्तर स्मरण
द्वारा ही यह विकलता सहज स्वाभाविक
हो रहती अत्यावश्यक है।

भक्ति — सकाम भक्ति इच्छित फल देती है
किन्तु निष्काम भक्ति प्रभु से मिलाती है

1732

निष्काम भक्ति से काम क्रोध लोभ का नाश होता है। भक्ति की भूमि जानती, जो कि शान्ति है वह तो साधकों मात्र है। भक्ति साधन या क्रिया साध्य नहीं, वह स्वयं फल रूपा है। प्रभु कृपा करें तब उनके चरणों में भक्ति होती है। भक्ति तो प्रभु का प्रसाद है।

मन में जो एक प्रकार का रस पैदा होता है, मिलने की इच्छा का उदय होता है उसे पूर्वराग कहते हैं। प्रभु के प्रति अनुराग को लेकर रस की साधना का प्रारम्भ होता है। जब अंकुर जैसे प्रभु में पूर्व राग होता जायगा वैसे २ प्रपञ्च में राग कम होता जायगा।

प्रभु प्राप्ति के लिये होने वाली व्याकुलता, प्रत्येक दुःखदायी होते हुए भी परम सुख रूपा है प्रभु वियोग की पीड़ा कालकूट

जिस से भी अतृप्ति की ज्वाला मयी होती है। प्रभु-प्रेमी को उस प्रेम की सिवाय अन्य किसी भी वस्तु की इच्छा उत्पन्न नहीं होती कारण अन्य कोई भी वस्तु उसकी पूर्ति कर ही नहीं सकती।

प्रेमी वियोग अधिक चाहता है संयोग कम। वियोग का मिलन अखंड होता रहता है - कितनी देर तक, किस समय और किस जगह होता है कहा नहीं जा सकता। हर मुहूर्त में होता है। इस मिलन का स्वातन्त्र्य जैसा वियोग में है संयोग में नहीं। जहाँ बाहर का अमिलन हुआ भीतर का मिलन आरम्भ हो जाता है। वियोग में मिलन का अभाव नहीं किन्तु संयोग में ~~मिलन~~ अवश्यम्भावी है वियोग का होना। वियोग में एक मात्र प्रभु की अनन्य आकांक्षा रहती है पर सावधानता रखनी

(1734)

होगी कि विषयों में भोगों में
भगवान की चीज नहीं न मानते हों।
भगवत्स्वरूप में राग सदा निश्चयपदू
रूप से बदला ही जायगा। व्याधा नहीं
व्यापति कारण प्रभु प्रेम रस को
भूखे प्यासे को ही रहते हैं यथा, वे
भक्त की भक्ति साधक योगक्षेम
रक्षा ही करते हैं।

भक्त का स्वभाव बन जाता है
मानव मानव से, पशु पक्षियों से, कीट
पतंगों से, पेड़ पौधों से, चर अचर
से प्रेम, सृष्टि से प्रेम, सृष्टिकर्ता
से प्रेम। उसकी दृष्टि में हर वस्तु
में प्रभु ही हैं। जिसकी जैसी हो
दृष्टि उसके लिये वैसी ही सृष्टि —
"सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ
हनुमंत। मैं सेवकु सचराचर
रूप स्वामि भगवंत (रा.कि. ४-३)
सीयराममय सब जग जानी।
करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥
(१-८)

भक्तों का स्वभाव-

प्रभु के गुणों का, संतों के चरित्रों का ही चिन्तन स्मरण करते हैं, दूसरों के दोष का स्मरण तक नहीं करते।

मान की चाह नहीं होती, मरने के बाद लोग प्रशंसा करें उसकी भी इच्छा नहीं होती।

दूसरों की उन्नति से प्रसन्न और दूसरों के दुःख से करुणा करते हैं।

अपने शारीरिक आराम के लिये कंजूस और दूसरों का दुःख दूर करने में उदार होते।

प्रभु की प्रसन्नता सब कुछ मानते।

निरन्तर प्रभु-स्मरण बना रहता है।

गंभीर से गंभीर परिस्थितियों में भी मन का संतुलन बनाये रखते हैं क्योंकि जो कुछ होता है उसमें प्रभु का ही हाथ देख कर संतुष्ट रहते हैं कि यह सब भले के लिये ही हो रहा है।

(1736)

पूर्ण आत्म समर्पण करके प्रभु की अहेतुकी कृपा पर ही आश्रित रहते। और उनका हर कार्य प्रभु की प्रसन्नता के ही लिये होता है।

प्रभु प्रेम की लालसा के सिवाय कोई कामना नहीं होती और जब तक प्रभु प्राप्ति न होती तब तक व्याकुलता बढ़ती ही रहती और भी परिस्थिति मिलती उसका सदुपयोग करके लक्ष्य की ओर बढ़ते रहते हैं।

किसी को भी अपने सुख दुःख का कारण नहीं मानते और किसी को दुःख नहीं देते

अपनी वस्तु मात्र दुखी की सेवा को हमेशा प्रस्तुत रहते। इसमें किसी प्रकार का अभिमान नहीं करते बल्कि यही भावना रहती है कि प्रभु की वस्तु प्रभु की सेवा में लग रही है। वन्दनीय वस्तु

मौनि बन्धन से युक्त मैन (स्व)प्रिय से
ऐसे भक्त न हितो हैं किसी प्रकार की
कामना नहीं रखते एवं ऐसे भिन्नतो
भूलते हुए प्रभु उदर से अप्रसंग
रहते हैं यद्यपि प्रभु के कारण उनका
कोई अनिष्ट न होवे इसका पूरा
ध्यान रखते हैं।

किसी भी परिस्थिति के सम्बन्ध
में दूसरे को दूसरे की बराबरी
की इच्छा नहीं रखते।

कभी यह नहीं सोचते कि
प्रभु के समय साधना का है और
प्रभु के समय नहीं है। उनकी हर
प्रवृति साधना रूप ही होती है।

जब कभी शुभ संकल्प को पूरे
न हो पावें तब भी उनकी भावना
रहती हैं कि प्रभु अपना प्रेम प्रदान
करने के लिये ही मेरे मन की बात
पूरी नहीं कर के अपने मन की ही
पूरी किये हैं। इस तरह प्रभु के विकल्प

मैं अपना संकल्प मिला कर
आनन्द मना रहते हैं।
प्रत्येक कार्य करते समय
सावधानी रखते हैं कि उनके कार्य से
किसी की हिंसा तो नहीं हो रही है
विकार उत्पन्न हो ऐसे
प्रसंगों में भी निर्विकार रहते हैं
अपने पाप को प्रकट करके
मानसिक भार से सदैव मुक्त रहते हैं।
जीवन में आने वाले दुःख को
प्रारब्ध फल नहीं प्रभु का वरदान ही
मानते हैं।
जीवन में अहंकार, छल, कपट
हठ, आडम्बर को निकाल कर
सरलता लाते हैं।
प्रभु के नाते से सबको अपना
मानते हैं किन्तु किसी में भी
विशेष लगाव और आशक्ति नहीं
रखते। सब के प्रति स्नेहपूर्ण
प्रसन्नता का व्यवहार करते हैं

मुक्ति तक की लालसा नहीं रखते सिर्फ प्रभु स्मरण में मस्त रहते हैं।

जब कोई समस्या हो जाये तब भावना उठती है कि प्रभु ने इसके को मुझसे क्या सेवा हो सकती है।

कितना भी कष्ट प्राप्त हो प्रभु की निन्दा नहीं करते उसी कष्ट में अपनी भलाई मानकर सुखी रहते हैं।

उनकी मान्यता रहती है कि जो कुछ भी अनुकूलता से या प्रतिकूलता से हो रहा है, घटित घटनाएं प्रभु की इच्छा और माया से होती हैं प्रभु ही कर्ता हैं मैं तो यन्त्र मात्र हूं उसके सारे विधान ही न्याय और दया पर आधारित हैं। उपस्थित कर्म को ही प्रभु का काज मानकर विश्वास से काम को करते हैं

जितना मिलता है उसी को प्रभु का प्रसाद मानकर प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण कर संतुष्ट और प्रसन्न रहते हैं

1740

अनावश्यक नहीं बोलते, अनावश्यक बोल कर चुप हो जाते इससे बड़ी शक्ति मिलती है।

**साधना** अपने इष्ट की प्राप्ति करने की एक क्रिया साधना है। प्रभु की कृपा के बिना साधना की ओर मनुष्य का कदम नहीं बढ़ सकता। इस मार्ग मे प्रवेश करने के बाद साधक निकल नहीं सकते, कुछ समय के लिये गाड़ बड़ी भले ही हो जाय किंतु जल्दि ही फिर रास्ता पकड़ लेता है। योगक्षेम प्रभु ही करते हैं। सिर्फ मायिक इच्छा और मोह से साधना अधूरी रहती है।

अपने शरीर की प्रकृति के अनुसार आसक्ति त्याग है, सम्पत्ति, चिन्ता, अभिमान को त्याग कर साधक साधना करे।

साधक प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करके साधना करे।

प्रेम के बिना उपासना व्यर्थ का श्रम है।

प्रेम की शरण के बिना उसकी कृपा नहीं मिलती और इसके बिना संसार को जीता नहीं जा सकता।

प्रतिमा या चित्र सामने रख कर उपासना करने से अधिक लाभ मिलता है। मूर्ति या चित्र के किसी अंग को एकटक देखे, आँख [illegible] या मन थकने पर दूसरे अंग को देखे फिर प्रत्येक अंग को। थक जाने पर आँख मूँद ले और आँख मूँदने पर जो दीखे उसे देखता रहे। फिर आँख खोल कर इसी क्रिया को दोहराते रहें। फिर मन थक जाय तो जप करे। इस तरह सम्भव हो तो जप और ध्यान बारी बारी से करें, ध्यान से थके तो जप और जप से थके तो ध्यान।

17५८

परिवार को छोड़ कर वन में रहने की आवश्यकता नहीं है। परिवार में रहते हुए भी विरक्ति के साथ प्रभु का भजन करने वाला ही सच्चे अर्थ में वैरागी है।

कर्म नहीं बल्कि भाव ही प्रधान और उच्च और नीचा है। शुद्ध भाव से प्रभु प्राप्ति हेतु किया हुआ कर्म ही श्रेष्ठ है।

सांसारिक पदार्थों से भगवत विषयक कार्य अधिक रोचक लगाव ही प्रभु का व्यसनी बनाती है अन्य पदार्थों का आकर्षण भक्ति की न्यूनता है क्योंकि मनुष्य जिसको अधिक मूल्यवान समझता है उसे ही प्राप्त करना चाहता है उधर ही उसका मन दौड़ता है। प्रभु को अपना सब कुछ समझना चाहिये।

वाणी के मौन से शक्ति बढ़ती है। मन के मौन से

अपूर्ण दृष्टि ऐसे लगती है कि निष्काम कर्म अभ्यास से मैं, ऐसे अपूर्णताः करता शुद्ध होता है।

हर घड़ी यही ध्यान रहने से कि मैं साधना में प्रगति कर रहा हूँ या नहीं तब तो साधक को अहं ही पनपेगा। अतः इस पर ध्यान न देकर साधना पर ही केन्द्रित रहना चाहिये।

समर्पण के लिये आवश्यकता है श्रद्धा, अनन्यता और प्रसन्नता की।

प्रेम में अकर्मण्यता का स्थान नहीं है।

प्रभु निरन्तर भक्त पर प्रसन्न तो तुरत हो जाते हैं पर प्रकाशित समय पर ही करते हैं।

संसार को धर्म को भूले रहना प्रेम की उत्पादक रूप है।

प्रेम के लक्षण प्रगाढ़ न भी हों तो अभ्यास से भजन करते रहना चाहिये?

1754

राम नाम मंगलमय, मधुमय, रसमय, चिन्मय है। इससे बाहर भीतर सर्वत्र परमानन्द होता है, तिरस्कार बनता है, निश्चिन्तता है दुरासक्ति, अहंकार, कामना का नाश होता है।

माला के बिना मन से जप करना अधिक लाभदायक है, स्वांस स्वांस पर जप इससे भी ज्यादा लाभदायक है।

मुक्ति की इच्छा वाले को धन कमाने की लालसा, दूसरों की भलाई की इच्छा, स्त्री संग, सांसारिक पुरुषों का संग त्याग देना चाहिये कारण कुछ दिन में कामना जागृत होती है।

प्रभु की प्रार्थना करते समय ~~[illegible]~~ प्रभु के उसी नाम को याद करो जिस वस्तु की कामना करते हो।

गुरु करे सो न करके कहे सो करो

भिक्षा देने वाले मेरे ऊपर
उपकार कर रहे हैं यह विचार करें
भिक्षुक या संन्यासी को दाता का
हित ही करना सोचना चाहिये

दूसरों की आवश्यकता पूर्ति
करने के लिये त्याग करने से ही
अनिर्वचनीय आत्म तृप्ति होती है।

इन्द्रियों के व्यापार से मन का योग
न देने से कर्ता पाप और पुण्य का
भागी नहीं बनता।

साधु संतों की जीवनी से
पता चलता है कि जीवन पूर्वकाल
में प्रारब्धवश कष्टमय ही रहा है
मध्य और उत्तरार्ध में प्रभु की
कृपा से सरल व सुखमय है।

उधार ली हुई, मांगी हुई या
हड़पी हुई सम्पत्ति या सौन्दर्य
की बनिस्पत अपना जो कुछ है उसे
लेकर ही सिर ऊंचा रखना
कहीं अच्छा है।

1746

सावधानता — किसी वस्तु को सिर्फ अपनी ही मानकर भोगने से अपरिग्रह संभव है अप्रामाणिकता आती है और निस्पृहता से की मानकर भोगने से ही समता और विरक्ति। अपनी चीज दूसरे की भी है मानने से आत्मीयता और दूसरे की चीज अपनी भी है मानते विरक्ति नहीं। इसी इस प्रकार सम रहने का लक्ष्य की ओर बढ़ो। अनुकूल वेदना सुख व प्रतिकूल वेदना दुःख है। जो भोगता है वह वही नहीं है और कुछ भी है। सब सब है विचारने से सब में सब सहज ही प्रतीत होने लगता है।

दोहा — गज मुखन सें कनिका गियौं ।
घटयौं न ताको अहार ॥
ताहि पिपीलिका लै चली ।
पालन निज परिवार ॥

संसार-रिपु — प्रभु-प्राप्ति के साधना पथ में संसार-रिपु अर्थात् दुर्जय हैं। श्री रामचरितमानस में तुलसीदास जी इन सबका राक्षस के नाम रखकर विभीषण-श्रीराम संवाद में वर्णन करते हैं।

सिंधु तट पर प्रथम मिलन में श्री राम अपने प्रणत भक्त विभीषण से प्रश्न करते हैं

खल मंडली बसहु दिन राती। सखा धरम निबहइ केहि भाँती॥

और फिर विभीषण खलों का वर्णन करते हुए कहते हैं 'लोभ मोह मच्छर मद माना॥'

"ममता तरुन तमी अँधिआरी। राग द्वेष उलूक सुखकारी॥
तब लगि बसति जीव मन माहीं। जब लगि प्रभु प्रताप रबि नाहीं॥
तब लगि कुसल न जीव कहुँ सपनेहुँ मन बिश्राम।
जब लगि भजत न राम कहुँ सोक धाम तजि काम॥"

इन सब पर विजय पाने के लिये विजय-रथ का वर्णन करते हुए लंका युद्ध-स्थल में राम-रावण युद्ध में समझाते हुए कहते हैं —

1748

सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा॥
सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें॥
महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर।
जाकें अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मतिधीर॥

द्वापर में महाभारत युद्ध में प्रभु श्री कृष्ण स्वयं अपने भक्त सखा अर्जुन के रथ के सारथी बने तभी अर्जुन

ऐसे विकट युद्ध में विजय पा सका। श्री कृष्ण के परमधाम गमन के बाद ~~प्रभु के~~ वही अर्जुन था वही गांडीव धनुष था वही तीर तरकस थे पर प्रभु के न रहने के कारण अर्जुन की वीरता नष्ट हो गयी जब लुटेरे किरातों ने अर्जुन से प्रभु की स्त्रियों को छीन लिया।

जिस प्रकार युद्ध भूमि में कुशल सारथी का होना रथी योद्धा के लिये अनिवार्य है उसी तरह मनुष्य के इस जीवन रूपी युद्ध को जीत कर पार लगा जाने के लिये प्रभु का भजन, ~~प्रभु~~ अर्जुन की तरह पूर्ण रूप से ~~समर्पित~~ प्रभु के हाथ में रथ की बागडोर सम्भला कर ~~निश्चि~~ निश्चिन्त हो जाना अनिवार्य है तभी प्रभु भक्त के जीवन रथ की बागडोर सम्भालते हैं।

मैं सेवक समरथ्थ का, कबहीं न होय अकाज।
पतिव्रता नांगी रहे, वाही पती की लाज॥

(1750)

स॰ सं॰ नं॰ 65

23/7/83 श्री राम जी का शत्रु के प्रति भी अनुकूल व्यवहार

परब्रह्म परमेश्वर ने श्री राम-अवतार लेकर अपने आचरणों द्वारा मनुष्य दुर्लभ सद्गुणों को पाठ पढ़ाये हैं उनमें से अपने शत्रुओं के प्रति अनुकूलता भी एक है।

प्रभु के श्री मुख के ये वचन परमेश्वर के सिवाय दूसरे के मुख से नहीं निकल सकते।

मम माया संभव संसारा।
जीव चराचर बिबिध प्रकारा॥
सब मम प्रिय सब मम उपजाये।
अखिल बिस्व यह मोर उपाया।
सब पर मोहि बराबरि दाया॥ ७-८६

सारा विश्व ही प्रभु की ही संतान है, वे सब पर सम-भाव रखते हैं।

"समदरसी मोहि कह सब कोउ" (४-३)

अवतार के रूप मनुष्य देह में भी यह स्वभाव ज्यों का त्यों वर्तमान है। उनका कोई भी शत्रु नहीं - किसी को भी वे शत्रु रूप में भी नहीं समझते।

अपने प्रभु के इस स्वभाव को पिता दशरथ अच्छी तरह परख चुके हैं। अतः जब कैकेयी ने राम को बन-वास दिलाने का हठ करके बैठी है तब राजा को आश्चर्य की सीमा न रहती और वे विवशता से कहते हैं
"जासु सुभाउ अरिहि अनुकूला।
सो किमि करिहि मातु प्रतिकूला॥" (२-३३)

माता सुमित्रा जी, अपने पुत्र लक्ष्मण को श्री राम के साथ वन जाने का आदेश देते समय बड़ी दृढ़ता से कहती हैं कि राम सबके निस्वार्थ प्रेमी हैं
"राम प्रानप्रिय जीवन जी के।
स्वारथ रहित सखा सब ही के॥"
(२-७४)

भक्त राज भाई भरत लाल को इतना दृढ़ विश्वास है प्रभु के इस स्वभाव पर कि इसी को दृढ़ करके धरकर इसी के बल पर अपने अपराध के क्षमा हो जाने का भरोसा करके मनाकर लौटा लाने के लिये वन को चल पड़ने का निश्चय करते हैं
अपराधहु के अपनभल कीन्हू न रामा।
मैं सिसु सेवक सुद्धा पुनीमा।। (२-२६[illegible])

यह तो है राज-महल की, राज परिवार की ही बातें - प्रभु के इस अद्भुत स्वभाव प्रभु श्री रामकृपाला की तो माने ही नहीं, उनको बैरी सुहाते हैं ही नहीं, वैर भाव है ही नहीं की ख्याति दूर दूर देशों में फैली हुई है। स्वयं तो अपनी पत्नि तारा के रोकने पर भी बालि यह कह कर सुग्रीव से लड़ने चल पड़ता है
"कह बाली सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ" (४-७)

लोगों ने तो चुटकुलों में यह ख्याति यों ही फैल गयी है। नहीं नहीं, श्रीराम के मनुष्य देह के प्राचीन ग्रन्थों में इसके प्रचुर प्रमाण हैं।

महर्षि विश्वामित्र के यज्ञ विध्वंस के लिये मारीच सुबाहु आदि से घात तब उस अपने कुछ-ही मारीच को प्राण न हर कर फर हीन बाण से लंका के सागर के पार फेंक देते हैं एवं कृपा करके उस राक्षसि का नाश कर अग्निकोटि को भस्म कर डालते हैं।

"बिनु फर बान राम तेहि मारा।
सत जोजन गा सागर पारा" (१-२१०)

यह सभी हुई कि श्रीराम बचपन की बात छोड़ जो युवावस्था है, जब मनुष्य का क्रोध बढ़ा रहता है। उस समय पिता राज्याभिषेक की घोषणा कर चुके हैं और रहस्य उस राज्याभिषेक की जगह बनवास

(1754)

दिलवा देने वाली विमाता कैकई
प्रति इनका प्रेम पूर्ण वर्ताव दो
अवसरों पर चित्रकूट में एवं लंका
विजय कर अयोध्या लौटने पर।
लक्ष्मण का क्रोध बना हुआ है पर
राम के मन में बैर-भाव लेश
मात्र भी नहीं है। *इनके बराबर का
चरित्र विश्व के इतिहास में
खोजने से भी नहीं मिलने का।
* बालक तरह तरह से समझाकर इनकी
आत्म-ग्लानि नष्ट करते हैं।

प्रथम राम भेंटी कैकई।
सरल सुभाय भगति मति भेई॥
पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी।
काल करम बिधि सिर धरि खोरी॥ (२-२४४)
भरत मातु पद बंदि प्रभु सुचि सनेह मिलि भेंटि।
बिदा कीन्हि सजि पालकी सकुच सोच सब मेटि।
प्रभु जानी कैकई लजानी।
प्रथम तासु गृह गए भवानी॥
ताहि प्रबोधि बहुत सुख दीन्हा॥
(७-१०)

प्रभु की शरणागत-प्रतिपालन
गुण से ही दयालुता झलकती है उसे कहने
देने वालों को मनुष्य शरणागत की
रक्षा के समान ही नहीं कर
सकता। श्री राम ने स्वयं प्रतिज्ञा-युत
से कहे थे श्री रामजी की है प्रभु प्रेम
करते थे कि मेरा है व्यवहार
भगवानों की शरणागति विश्वास
करते हैं। उसी शरणागत को
काल के जाते चोंच मार के
प्रदान कर देता है- चाहे तो उसे
उसकी जान मार देता किन्तु नहीं।
जयन्त को हल्की सी सजा दे कर यानि
एक आँख फोड़ कर छोड़ देते हैं।

एक नयन करि तजा भवानी।
कीन्ह मोह बस द्रोह जद्यपि तेहि कर बध उचित।
प्रभु छाड़ेउ करि छोह को कृपाल रघुबीर सम॥

यही नहीं जिस मारीच की जान
बचाई थी वही मारीच सीता हरण
में सहायता करके दुबारा ... हरण

आराधना कर रहा है किंतु सारी पृथ्वि
को डेग भर में नाप लेने वाले प्रभु उसकी
आन्तरिक इच्छा पूरी करने के लिये
धनुवाण हाथ में लिये हुए उसके
बहुत दूर तक — पीछे पीछे जंगल में भागते चले जाते
हैं और यह दुर्लभ दर्शन देने के बाद
उसका वध कर मुनि दुर्लभ अपना पद
यानि अपने धाम भेज देते हैं

"प्रभुहि बिलोकि चला मृग भाजी।
धाए रामु सरासन साजी॥
मायामृग पाछें सो धावा॥
एहि बिधि प्रभुहि गयउ लै दूरी॥
मुनि दुर्लभ गति दीन्हि सुजाना॥
निज पद दीन्ह असुर कहु दीनबंधु रघुनाथ
(3-२५)

धोखा देकर अकेली सीता को छल
पूर्वक हर ले जाने वाले रावण जैसे
शत्रु को भी प्रतिकूल होकर
प्रभु के धाम से भर कर अपनी
भक्ति सुधारने की इच्छा की प्रतीरक

इच्छा की पूर्ति करने के लिये उनकी प्रतीति की प्रभु ने सुरक्षा की और वात्सल्य विकलता में, ऐसे अनुकूल ही आचरण करते हैं यह है प्रीति के प्रति उदारता प्रभु की

प्रभु सर प्रान तजें भव तरऊँ ॥(3-23)
तासु तेज समान प्रभु आनन॥ (6-103)
तुम्हहि दियो निज धाम राम नमामि ब्रह्म
निरामयं ॥ (6-104)

यही नहीं शत्रु रावण को जिताने में सहायक युद्ध के लिये आये उनके नाम विभीषण बताते जाते और राम ~~मार कर~~ उनको अपने हृदय में अंकित करते जाते हैं ऐसे कृपालु हैं प्रभु-

कहइ बिभीषनु तिन्ह के नामा।
देहिं राम तिन्हहू निज धामा॥
राम सरिस को दीन हितकारी।
कीन्हे मुकुत निसाचर झारी॥ (6-44)

(1758)

यहाँ तक कि रावण की ओर से युद्ध करने वाले कुंभकर्ण की भी ज्योति, प्रभु के मुख में ही आती है
तासु तेज प्रभु बदन समाना। (६-७०)

खर दूषण ने राम से ... तो उन्हें दंड देने की ... करते हैं तब युद्ध में चौदह हजार सेना को ... उन्हें मार कर निर्वान पद देते हैं।
राम राम कहि तनु तजहिं पावहिं पद निर्बान

यही नहीं ताड़का और कबंध राक्षस उन्हें खा डालने को लपकते हैं पर श्री राम उनके प्रति भी ~~...~~ बैर का भाव न रख कर उन्हें मार कर उनके राक्षसी देह से उन का छुटकारा कर अनुकूलता का ही व्यवहार करते हैं
सुनि ताड़का क्रोध करि धाई। एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा। दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा॥ (१-२०९)
"आवत पंथ कबंध निपाता।

तौ हम सब कही साप की लीला।।
उर बासना मोहि दीन्ही साया।
प्रभु पद पैहहि मिटहि सो पापा।।/3-33

अपना अहित करने वाले महान अपराध करने वालों पर भी श्री राम कभी क्रोध नहीं करते बल्कि उनका भी मंगल ही मंगल करके अनुकूलता ही बरतते हैं।

प्रभु श्री राम का स्वभाव इतना अनुकूल रहता है कि उनके चरणों का ध्यान करने वाला प्राणी जन्म ही संसार के पुनर्जन्म के चक्कर से छुटकारा पा जाता है मुक्त हो जाता है मुक्ति पा जाता है

सुमिरत सरन हरि हृदय तुम्हारा।
होइहहु मुक्त न पुनि संसारा।।(7-135)

1760



6/8/83

जिन से नहीं कोई बरेलना ।
राघव ! ~~ऐसे सों~~ से तु खेलना ।।
उन

सब अवगुन भुल मन अपनाना ।
सरन सु खद आये की पत रखना

मेरि बेर जि यह सच कर दिखाना
मम अवगुनों की नहीं गनना ।।

सब त्याग दें ~~प्रभु~~ पर तुम न ठुकराना
तुम ठुकराये प्रभु कहां जाना ।।

कहीं और न मेरा ठिकाना ।
आरत आय पड़ा तव चरना ।।

निस दिन चित तव चरन रखना
अमित दोनों अन्त समय दरस देना

सस्मित उठाय घूंघट ले लेना।
दास 'संकर' कि यह तमन्ना पुरना ॥

1762

कैसेट-नं 66

10/8/03

जगज्जननी माँ श्री सीता जी

शारदा, नारद, शेष भी जिनकी महिमा का पार नहीं पा सके उन जगदम्बा जीव की क्या बिसात है कि कुछ कह सकें। यह तो उन माँ जानकी सर्वेश्वरी श्री सीता जी के श्री चरणों में अपनी भक्ति पुष्प अर्पित करने का बाल प्रयास मात्र है।

श्री राम की आह्लादिनी शक्ति सीता जी उद्भव, पालन, संहार कारिणी श्री सीता जी सिद्धियों की एक समष्टि रूप हैं साथ ही सकल सज्जनों के सब तरह के क्लेशों का नाश करके उनका सब प्रकार से कल्याण करती हैं। तभी तो मानसकार ने रामचरित के बाल

कांडों के मंगलाचरणों में इन्होंने श्री
राम की वन्दना के पहले ही राम-
वल्लभा जगन्माता श्री सीता जी
की वन्दना की है।

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥
(५)

श्री सीता जी श्री राम की
साधारण प्रियवल्लभा ही नहीं
अतिसय प्रिय हैं अतः फिर दुबारा
भी भक्त तुलसीदास जी श्री राम
की वन्दना के पहले 'अतिसय प्रिय'
कह कर इनकी ही वन्दना करते हैं

जनकसुता जग जननि जानकी।
अतिसय प्रिय करुनानिधान की॥ (१-१८)

श्री सीता जी परब्रह्म श्री राम की
आह्लादिनी पराशक्ति हैं। एक बार
भगवान शंकर ने जब श्री राम के
पर स्वरूप दर्शन की कामना से दिव्य

१७६४

११ १०
यों वर्षों तक श्रीराम-मन्त्रराज
का जप किया तब प्रभु ने हृदय
देश में संकेत किया कि यदि आप
मेरे भावनात्मक-स्वरूप का
दर्शन करना चाहते हैं तो मेरी
आह्लादिनी पराशक्ति की
स्तुति करें क्योंकि मैं उन्हीं के
सहित आराध्य हूँ, उन्हीं का स्मरण
करता हूँ, उन्हीं के अधीन
हूँ उनके बिना एक क्षण भी नहीं
रह सकता हूँ क्योंकि वे नित्य
परम प्रेमी हैं। प्रभु की सत्ता का निर्वाह भी
उन्हीं के द्वारा होता है।

तदाराध्य स्तदाधार तदाधीनस्तया विना।
तिष्ठामि न क्षणं शक्तो जीवितुं परमं प्रिये॥
(जानकीस्त. श्लोक ४)

भगवान शंकर ने प्रति-प्रीति
के उपदेशक वचनों में स्पष्ट भाव
से कहा है कि श्री राम-भक्तों की
आनन्दमार्ग में रूप रहें। यानी
तो प्रणीत कलाएँ का में प्रिय जाये

विशेष विकल सीताजी को यह कर उनके प्रति प्रभु के अतिशय प्रेम का संकेत करने के लिए कहा है। उधर इधर सीताजी का हनुमान मिलती है।

"प्रभु के हृदय जानकी जानकी उर मम बास है।
का रस सिर सो ईहि बिकल छुटि जाइहि तब दैया।
सब रावनहि हृदय महुँ मारिहहि राम सुजान ॥"

और सम्भवतः इसीलिए रावण प्रभु के बाण को लंका में बुलाने हेतु सीताहरण की योजना बनायी है।

"जौं भगवंत लीन्ह अवतारा। तौ मैं जाइ बैरु हठि करऊँ।
प्रभु सर प्रान तजें भव तरऊँ। मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा।" (3-23)

सीताजी पर ब्रह्म की राम की माया है। यह सारा विश्व माया निर्मित ही है। यह माया सीताजी से ही उत्पन्न है। आदि शक्ति हैं उनके अंश से ही उत्पन्न लक्ष्मी, उमा, ब्रह्माणी आदि त्रिदेवियाँ उत्पन्न होती हैं। इन्हें

(1766)

जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥
भृकुटि बिलास जासु जग होई।
राम बाम दिसि सीता सोई॥ (१-१४८)
आदिसक्ति जेहिं जग उपजाया।
सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥ (१-१५२)

श्री राम-राम" सीता राम नाम का ही जप या कीर्तन किया करते हैं। 'राम-सीता' नाम का कोई नहीं कहते अनादि से सीताजी का उसके पीछे राम जी का। कारण सीता जी प्रसन्न होकर श्री राम जी की प्राप्ति का आशीर्वाद दे देती हैं जैसा कि अशोक वाटिका में प्रसन्न होकर पवन सुत को वर देती हैं और इनका वर और आशीर्वाद अमोघ है।

अजर अमर गुननिधि सुत होहू।
करहु बहुत रघुनायक छोहू॥
आसिष तव अमोघ बिख्याता॥
(५-१७)

जिस प्रकार श्री रामजी पुरुषोत्तम हैं उसी प्रकार सीताजी भी नारीउत्तमा हैं। उनके अभूतपूर्व त्याग अलौकिक पातिव्रत्य, धैर्य, सहनशीलता, करुणा, क्षमा, शरणागत-वत्सलता, मातृत्व प्रेमपूर्ण सत्य इत्यादि अनेक गुण उनके दिव्य चरित्र के जगमगाते हुए रत्न हैं अतः हम [illegible] जीवों को वन्दन करते हैं।

आपने मल कान्ति से "रूप सुहास देख" एक सांप मिलकर डसका भी नहीं" सकी थे। पं. उस शब्द-धारणमें एक बार नई उसका सीताजी ने अनायास ही उठाकर उसके नीचे की घास पुरानको साफ कर दिया था यह घटना उनके बल, तपाई की शक्ति, कोमलता, [illegible] कुशलता प्रकट करती है। इनके [illegible] बल से प्रभावित होकर जनकजी ने धनुष चढ़ाने वाले वीर से ही उनका

1168

विवाह करने की प्रतिज्ञा की थी

सीता जी किसी के दोष या अपराध पर कभी ध्यान ही नहीं देती। इनकी सहनशीलता भी अद्भुत ही उच्चकोटि की है। राज्य तिलक की जगह वनवास दिलाने वाली कैकयी को भी कभी कटु वचन नहीं कहती हैं और न इनके मन में उनके प्रति कभी कटु भावना भी नहीं मिलती।

ये करुणा की मूर्ति है। अकाल के समय जनकजी के हल चलाते समय धरती से प्रकट होकर मिथला के कृषिकार्य को बढ़ाया और धन धान्य से पूर्ण कर दिया

इनका मातृ रूप-वात्सल्य
इतना अधिक है कि वनवास में
जब श्री राम-अपराधी जीवों का
पितृत्व प्रयुक्त हिंसा की कामना
से कुपित हो जाते तब सीता जी
मातृत्व प्रयुक्त वात्सल्य से प्रेरित हो
श्री राम के द्वारा जीवों को क्षमा प्रदान
करवाती रहीं - कि अपराधी वनवासी
मेरे ही हैं अतः इस समय वनवासियों
को उचित क्षमा ही कर दीजिये क्रोधित
तो कहीं खर दूषण खर से युद्ध
करने में सीता जी बाधा न डाल दे
ऐसा इस ख्याल से श्रीराम ने युद्ध
पहले ही इन्हें लक्ष्मण जी के साथ
पहाड़ की गुफा में भेज दिया था
क्योंकि जगन्माता जी मातृत्व
ममता तो माता का गुण ही है

उद्धरण: "लै जानकिहि जाहु गिरि कंदर।
आवा निसिचर कटकु भयंकर॥"
(3-28)

यहां यह शंका उठती है कि
फिर कपट-मृग की कंचन देह
की चमड़ी पाने की कामना कर
उस मृग को मारने का अनुरोध
श्री राम से क्यों करती है

"सुनहु देव रघुबीर कृपाला। एहि मृग कर
अति सुंदर छाला॥ सत्यसंध प्रभु बधि करि एही।
आनहु चर्म कहति बैदेही॥ (3-26)

मृग के आने के पहले ही एकांत
में प्रभु रावण दल के उद्धार करने की
अपनी योजना इन्हें (सीता) बता
देते हैं कि कंचन मृग (मारीच) उसे
मारने के लिए तुम मुझे भेज देना,
फिर मेरी सहायता के लिए लक्ष्मण
को भी मेरे पास भेज देना और फिर
अकेले में भिक्षुवेश में रावण आकर
तुम्हें हर कर लंका ले जायगा।
इस प्रकार तुम्हारा उद्धार करने से
लंका जाकर मैं उन्हें मार कर
उद्धार करूंगा। यहां भी उनको

इनका मात्र हृदय ही अंग है जो मरवा
कर इसको मुक्ति करा कर सारे वंश
वंश का उद्धार हेतु ही ऐसा करवाते हैं
असली सीता जी अग्नि में प्रवेश कर
जाती हैं सिर्फ उनकी मात्र छाया ही
रह कर सब काम करती है

सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला।
मैं कछु करबि ललित नरलीला॥
तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा।
जौ लगि करौं निसाचर नासा॥
जबहिं राम सब कहा बखानी।
प्रभु पद धरि हियँ अनल समानी।
निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता।
(3-24)

श्री सीता जी अग्नि की कारण स्वरूपा
होने के कारण अग्नि में श्री सीता को
दग्ध करने की सामर्थ्य नहीं थी एवं
अग्नि उनकी इच्छा के नहीं जलती होगी
हनुमान जी की पूँछ में लगी अग्नि
शीतल हनुमान जी के लिये शीतल बनी

रही तो क्या अपने को कष्ट देने वाले दुष्ट रावण को भस्म नहीं कर सकती थी। उसे भस्म करने की पूरी सामर्थ्य सीता जी में थी। वह तो सीता जी के तपोमय तेज से पहले ही भस्म हो चुका था। किन्तु उन्होंने अपने अत्यंत क्षमाशील स्वभाव के कारण वाह्य रूप से उसे भस्म नहीं किया। पृथ्वी की पुत्री का अद्वितीय क्षमा सीता जी में है।

श्री राम ने तो शरणागत के कारण जयन्त जैसे अपराधियों की रक्षा की थी किन्तु जो राक्षसियाँ इन्हें बराबर ही सताती रहीं और इनकी शरण में भी नहीं आईं थीं उनको भी हनुमान जी के कोप से अपनी ओर से ही सीता जी ने रक्षा की थी यह उनकी अहैतुकी क्षमा गुण का रूप है

मनुष्य की क्या प्रभु ने संसार में रहने वाले सबका [illegible] भी थे। सीताजी प्रभु से अत्यंत ही स्नेह करती थीं इसी स्नेह के कारण विवाह के बाद प्रभु वन के लिये विदा होते समय लोग मनुष्य तक भी इनके विरह में व्याकुल हो गये।

सुक सारिका जानकीं ज्याए। कनक पिंजरन्हि राखि पढ़ाए॥
ब्याकुल कहहिं कहाँ बैदेही। सुनि धीरजु परिहरइ न केही॥
भए बिकल खग मृग एहि भाँती। मनुज दसा कैसें कहि जाती॥
(२-३३८)

लवकुश के जन्म के बहुत पहले ही हनुमान को पुत्र मान लिया था और आजीवन इनको पुत्र ही मानती रहीं। "अजर अमर गुननिधि सुत होहू।" (५-१७)। अयोध्या में विभीषण द्वारा भेंट में दिये गये अमूल्य हारको प्रभु ने अपनी अतिशय प्रिया सीताजी को दिया और सीताजी ने अपनी तरफ से प्यारे बेटे हनुमानजी को ही दे दिया।

(1775)

भाभी सीताजी के मातृ हृदय को भलीभांति पहचान कर ही तो स्वयं माता सुमित्रा ने वन के लिये विदा करते समय पुत्र लक्ष्मण जी से कहा था "तात तुम्हारी मातु बैदेही" (२-७४)

चित्रकूट में भरत और शत्रुघ्न दोनों भाई अति प्रेम पूर्वक सीताजी को बार बार प्रणाम करते हैं तब जिस भरत के कारण वन में कष्ट भोग रही हैं मां सिय अशीष देती हैं और दोनों देवरों के प्रति अति स्नेह के वश हो ऐसी हो जाती हैं कि अपने शरीर की सुध तक भूल जाती हैं। भाभी सीता को इतना सानुकूल पाकर दोनों भाई अति निश्चिन्त हो जाते हैं।

सानुज भरत उमगि अनुरागा। धरि सिर सिय पद पदुम परागा।
पुनि पुनि करत प्रनाम उठाए। सिर कर कमल परसि बैठाए।।
सीयँ असीस दीन्हि मन माहीं। मगन सनेहँ देह सुधि नाहीं।
सब बिधि सानुकूल लखि सीता। भे निसोच उर अपडर बीता।
(२-२४२)

पर प्रभु श्री राम और उनकी अनुज दोनों शीलवान और भद्र हैं। धर्म की व्यापकता के लिये ही त्रेता में दोनों ने मनुष्य रूप में अवतार लिये हैं। उन्हीं श्री सीता जी के यहाँ विवेचन का विषय है। इस मनुष्य देह में विकार से पहले कुछ समझाना के सीता जी को राम से मिलना पड़ा था। गुरु विश्वामित्र जी के लिये फूल लेने वाटिका गये हुए श्री राम की सुन्दरता का वर्णन सखी के मुँह से सुनकर सीता जी उत्सुक हो जाती हैं ये प्रभु श्री राम के अलावा दूसरा कोई नहीं हो सकता। सब नारद जी के वचन को याद कर मर्यादा में बँधी हुई सीता जी अपनी मानसिक आतुरता को व्यवहारिक कर कितनी कुशलता से छुपाती हैं यह दर्शनीय है। उनके मर्यादा-पालन स्वभाव की द्योतक है।

तासु बचन अति सियहि सोहाने। दरस लागि लोचन अकुलाने।
चली अग्र करि प्रिय सखि सोई। प्रीति पुरातन लखइ न कोई॥

(1776)

सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत।
चकित बिलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत॥
नखसिख देखि राम कै सोभा (१-२३५) सुमिरि पिता पनु मनु अति छोभा।
धरि बड़ि धीर रामु उर आने। फिरी अपनपउ पितुबस जाने॥ (१-२३४)

फिर मन की मंदिर में लाकर उसे प्रार्थना करते [illegible] अपने [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] कारन ले री (१-२३६)। धनुष [illegible] [illegible] धनु भंजन हेतु [illegible] [illegible] देखने के लिये [illegible] [illegible] रहे हैं तब भी [illegible] बीच [illegible] कर श्री [illegible] [illegible] रख कर सखियों को देखने लगती है

गुरजन लाज समाजु बड़ देखि सीय सकुचानि।
लागि बिलोकन सखिन्ह तन रघुबीरहि उर आनि॥ (१-२४८)
प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि राजत लोचन लोल।

श्रीराम ने धनु [illegible] [illegible] के प्रति [illegible] यह [illegible] कर सखियों के [illegible] जा रही हैं तन सकोचु मन परम उछाहू। गूढ़ प्रेम लखि परइ न काहू॥ [illegible] [illegible] [illegible] कर रही हैं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] के कंठ में शोभा पाने लगती हैं

उर लेखी" (2-286) "करति न चरन परस अति
भीता।" (2-286) दिखाई है। पुत्र-वधू ने
मातृ भवन में आती हैं "पुनि पुनि रामहि चितव
सिय सकुचति मनु सकुचै न।" (2-324)।
ससुराल में वर्षों तक दाम्पत्य जीवन यापन के बाद
भी जब श्री राम जननी से वन गमन की स्वीकृति पा
सुके पति के वन गमन का समाचार पाकर सीता
सासु के पास पति के साथ वन जाने की आज्ञा लेने
जाती हैं तब भी शब्दों द्वारा अपना अभिप्राय व्यक्त
न कर सकने के कारण चुप हैं। सिर नीचा किये बैठकर
पैरों की अंगुलियों से जमीन खरोंच रही है
"बैठि नमित मुख सोचति सीता। चारु चरन नख
लेखति धरनी।" (2-58) पति द्वारा साथ वन
चलने का आग्रह सुनकर उत्तर देने के पहले
सासु को प्रणाम कर अपनी अविनय के लिये
क्षमा माँगती है "लागि सासु पग कह कर जोरी
छमबि देबि बड़ि अविनय मोरी।" (2-64)
पति की अनुमति पाने पर सासु को प्रणाम करते
समय "तब जानकी सासु पग लागी। सुनिय
माय मैं परम अभागी।" (2-98) याद है इनकी

1778

विनय-शीलता की कोई वन में जाने पर
जब ग्राम स्त्रियाँ समझाती हैं सब लोग संकोच
वश सम्मुख उत्तर नहीं देती हैं। सीय
सकुच बस उतरु न देई। (२-६५)
शृंगवेरपुर में जब सुमंत्र जी सीता को लौटाने
का दशरथ का आदेश कहते हैं तब उन्हें
(सुमंत्र) उत्तर देते समझा देती हैं
[illegible] (२-९६)
पहले हृदय पुत्र के वियोग में। यहीं [illegible]
संकोच वन-पथ में प्रजा ग्रामीण नारियों
के सन्मुख श्रीराम को अपना पति बताते
समय लज्जा और संकोच वश भाव से
शब्दों द्वारा न कहकर आँखों के भाव से
बताती हैं। यह है इनके हृदय की लज्जा
और संकोची स्वभाव के प्रत्येक नमूने
बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी।
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सियँ
सयननि। (२-११६)

मानुके महत्व के पतिव्रत का आदर्श है। अपने वनवास को जाने से मुझे भी वनवास हो गया। एक मात्र पति ही नारी की गति है दूसरा कोई भी नहीं है।

(1779)

श्री सीता जी पातिव्रत्य पालन में सब से अग्रगण्या हैं नारियों की आचार्या हैं इन सीता जी ने अपने आचरणों द्वारा पतिव्रता का आदर्श उपस्थित करती हैं।

सीता जी न केवल मूर्ति छवि शील व सुन्दर अयोध्या के राजकुमार श्री राम का वरण करती हैं उनके पुरन की संगिनि नहीं रही बल्कि राज्य से निष्कासित राज्य श्री विहीन पति श्री राम का हठ कर सहर्ष साथ दिया। वनगमन के निषेध माता की इच्छा पूर्ति के लिये पति द्वारा बहुत समझाने पर भी राज महल में रहने को तैयार नहीं होती है और पति की सारी युक्तियों का उत्तर देती हुई कहती हैं [ प्रिय बियोग सम दुख जग नाहीं॥ तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद बिधु सुरपुर नरक समान॥ (२-६४)

जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते॥
तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति बिहीन सबु सोक समाजू॥
भोग रोग सम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू॥ (२-६५)
प्रभु बियोग लवलेस समाना। सब मिलि होहिं न कृपानिधाना॥
(२-६६)

(17·80)

मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुम्हहि उचित तप मो कहुँ भोगू॥ (२-६४)

अकेली पीछे छोड़ देने से प्राण त्याग देगी ऐसा देखकर पति इनको ले जाने को तैयार हो जाते हैं और साथ चलने की आज्ञा दे देते हैं। फिर सौतों के भवन में पोढ़ किन्तु ऐसे कष्ट तम भावना भी इन्हें नहीं होता कि इनको अपमानित कर पति को वनवासी बना डाला करके देखकर स्वयं भी वनवासी वेश ही धारण करती हैं। वन में भी सुख से उनकी सेवा सहर्ष करती रहती हैं, दुखी भी रह जाती हैं। पति के आहार विहार के अनुकूल ही आहार विहार भी करती हैं पति के संग वन में अत्यंत सुखी रहती हैं

* दि 17-8-86

"राम संग सिय रहति सुखारी।" (२-१४०)

पति सेवा का सुख छूट जाने के भय से एक रात भी मायके में चित्रकूट में नहीं रह सकी। "कहति न सीय सकुचि मन माहीं। इहाँ बसब रजनी भल नाहीं॥" (२-२८७)

अयोध्या में राज्याभिषेक हो जाने पर राज रानी बन जाने पर भी इतने सेवक

से विकारों से दूर रहते हुए भी पतिव्रत सेवा की लीला में रघुपति को दिखाई ही करती हैं। इस प्रकार दुःख सुख में समभाव से पति सेवा करती रहीं — मानस में नाम मात्र नहीं "जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवा बिधि जानइ॥" (७-२४)

अत्रि-पत्नी सती शिरोमणि अनुसूया जी ने श्री सीता जी को शिक्षा में कहा है "सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिव्रत करहिं।" (३-५)

ध्यान मूर्ति महाराज जनक जी ने श्री सीता जी को तपस्वी वेश में देख कर कहा है "पुत्रि पवित्र किए कुल दोऊ। सुजस धवल जगु कह सबु कोऊ॥" (२-२८६)

लंका के गुप्त अशोक वाटिका में वृक्ष के पत्तों में छुप कर बैठे हुए राम-दूत श्री हनुमान जी ने सीता का राम-विरह में जीवन अपनी आँखों से देखा है "बैठेहिं बीति जात निसि जामा। कृस तनु सीस जटा एक बेनी। जपति हृदयँ रघुपति गुन श्रेनी॥ निज पद नयन दिएँ मन राम पद कमल लीन।" (५-८)

तृन की ओट लेकर रावण को फटकारती हैं "तृन धरि ओट कहति बैदेही। सुमिरि अवधपति परम सनेही॥" (५-९)

1762

"श्याम सरोज दाम सम सुंदर। प्रभु भुज करि कर सम दसकंधर॥
सो भुज कंठ कि तव असि घोरा। सुनु सठ अस प्रवान पन मोरा॥ (5-10)
आनि काठ रचु चिता बनाई। मातु अनल पुनि देहि लगाई॥
नूतन किसलय अनल समाना। देहि अगिनि जनि करहि निदाना॥
जनु असोक अंगार दीन्ह हरषि उठि कर गहेउ॥ (5-12)

सीता का पता लगा कर जब कि हनुमान लौटने पर श्री रामचंद्र सीता किस प्रकार रहती है और प्राणों की रक्षा करती हैं यह पूछने पर हनुमान जी प्रभु को कहते हैं

"नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट॥ (5-30)
सीता कै अति बिपति बिसाला। बिनहिं कहें भलि दीनदयाला॥
निमिष निमिष करुनानिधि जाहिं कलप सम बीति (5-31)

पति-प्रेम-पालन अर्थात उच्च कोटि का है - पतिव्रता धर्म में दो बार अग्नि में प्रवेश तक कर जाती हैं पहली बार पंचवटी में रावण द्वारा हरण के पहले और दूसरी बार लंका युद्ध भूमि में रावण वध के बाद अग्नि परीक्षा के लिये।

इनका सम्पूर्ण जीवन दुःख का महासागर है लोकापवाद के कारण श्री राम इतनी उत्कृष्टि की सच्चरित्र पतिव्रता निर्दोष एवं गर्भवती पत्नि को त्याग देते हैं तब से शेष जीवन वन में महर्षि आश्रम में ही अकेली पति से अलग महर्षि के संरक्षण में ही बीता देती हैं।

सीता पति वियोग में मरण का वरण करना चाहती हैं किन्तु उसके जीवन बाधक हैं (1) श्रीराम का स्मरण (2) गुरु-शुश्रूषा (3) उत्तरदायित्व का निर्वाह। प्रथम का संचालन राम द्वारा, दूसरे का त्रिजटा और हनुमानजी द्वारा तीसरे का लव-कुश द्वारा होता है।

* पृष्ठ 1785 में देखें

बालमीकी रामायण पूर्ण रूप वस्तुतः सीता चरित ही है यही कारण है कि जो राम अपना गुणगान सुनना तक पसन्द नहीं करते वही राम बालक लव कुश के मुख से यह सीता चरित तन्मयता से सुनते हैं प्रभु सिंहासीन होकर सुन रहे हैं किन्तु

(1784)

उन्मत्त सिंहासन पर आसीन न होने के कारण आपने कोई अनुमान करते लगे। अतः मन्दगति से शनैः शनैः ठहर कर परिषद् में आये ताकि विपुलता से उनके बैठने में हस्तक्षेप न हो जाय। आप सुनते सुनते विभोर हो गये इससे सिद्ध होता है कि रामायण का सार श्री सीता-चरित्र ही है।

जब आनन्द दाता प्रभु श्री राम को भी यह सीता-चरित्र इतना आनंद देने वाला है तो फिर अन्य जीवों को आनन्द देने आश्चर्य की क्या बात है।

जनकसुता जग जननि जानकी।
अतिसय प्रिय करुनानिधान की॥
ताके जुग पद कमल मनावउँ।
जासु कृपा निरमल मति पावउँ॥

सीताराम सीताराम। सीताराम जय सीताराम

* पृष्ठ 1783 के आगे

अपने इस मनुष्य देह में श्री सीता
जी ने ~~[illegible]~~ अपनी दिव्य प्रभुता
ऐश्वर्य को प्रगट भी किया है। यथा —
श्री राम विवाह के लिये बारात
जब मिथिला पहुँचती तब बारात की
पहुनाई करने के लिये श्री सीता जी सब
सिद्धियों को बुलाकर पहुनाई करने
जनवासे में जाती हैं। और सिद्धियां
देवताओं के समान सारे सुख बारात
को पहुँचाती हैं। जिन जनक जी की बड़ाई
करते हैं केवल श्रीराम जी इसके भेद
पहुनाई का भेद जान सके और सीता का
यह प्रेम देखकर हर्षित होते हैं

हृदयँ सुमिरि सब सिद्धि बोलाईं। भूप पहुनई करन पठाईं॥
सिधि सब सिय आयसु अकनि गईं जहाँ जनवास।
लिएँ संपदा सकल सुख सुरपुर भोग बिलास॥ (1-306)
बिभव भेद कछु कोउ न जाना। सकल जनक कर करहिं बखाना॥
सिय महिमा रघुनायक जानी। हरषे हृदयँ हेतु पहिचानी॥
(1-307)

* पृष्ठ 1780 से आगे

तमसा तट पर वृक्ष छाया पर ग्रामवासियों के बाद पिता का उपदेश सुमन्त्र के मुख से सुनने के बाद एक बार फिर रघुनाथ जी राम घर लौट जाने का अनुरोध करते हैं उस समय घर लौट जाने के लिये सीताजी अपने पति के सामने जो युक्ति देती हैं वह भी उच्च कोटि की है। कहती हैं स्वामी! आपको छोड़कर अयोध्या लौटकर आना अत्यंत असम्भव है जैसे शरीर को छोड़कर छाया नहीं रह सकती, सूर्य को छोड़कर किरणें नहीं रह सकतीं; चन्द्रमा को छोड़कर ज्योत्सना (चाँदनी) की कल्पना तक असम्भव है उसी प्रकार आपके बिना सीता की कल्पना भी असम्भव है फिर मैं ~~अयोध्या~~ आपको छोड़कर अयोध्या कैसे लौट सकती हूँ।

प्रभु करुनामय परम बिबेकी।
तनु तजि रहति छाँह किमि छेंकी॥
प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई।

"कहुँ चंद्रिका चंदु तजि जाई।"

(1788)

सं०- २०६७

२०/४/८३

## माता सुमित्रा

सुमित्रा जी दशरथ जी की मझली रानी हैं। पुत्रेष्टि-यज्ञ में प्रज्वलित होकर अग्नि ने पायस। इसे प्रदान करते समय कहा कि यथायोग्य पत्नियों को प्रदान कर देना। महाराज दशरथ ने आधी कौशल्या जी को दी, बची हुई की आधी कैकेई को। अवशेष बची आधी का दो भाग किया। एक भाग को कौशल्या के हाथ से और दूसरी आधी कैकेई के हाथ से सुमित्रा को दिलवायी। इसी तरह के अनुसार पहली आधी से लक्ष्मण और दूसरी आधी से शत्रुघ्न हुए। सुमित्रा को दो पुत्र हुए। ये दोनों ही भाई प्राकृत शुक्र-शोणित के परिणाम नहीं थे - यह पायस भी भगवान का ही विग्रह ही था। इस निर्णय से तीनों ही रानियों में से किसी को भी आपत्ति नहीं हुई। कौशल्या द्वारा दिलवायी

लक्षण से लक्ष्मण हुए और श्रीराम
के अनुगामी हुए एवं रामानुज
कहलाये इसी तरह के कर्म द्वारा शत्रुघ्नी
से शत्रुघ्न हुए जो भरतानुज वे
कहलाये एवं भरत के अनुगामी रहे।

सुमित्राजी बड़ी उच्चकोटि की
प्रेम भक्ता थीं इनको चारों भाइयों
के प्रसन्नी स्वरूप जानकर विवेक
का पूरा ध्यान था एवं चारों पर
एकसा अनुराग स्नेह था इसका
प्रमाण गीतावली बालकाण्ड के नौवें
पद है के पहले पद में इनके शिशुकाल
में इकट्ठे होने को देखने की लालसा में
लिखते हैं "पलनहि कबधौं देखिहौं चारेउ भैया।
प्रेम पुलकि, उरलाइ सुवन सब, कहति सुमित्रा मैया।"

सुमित्रा नारी-वाचक शब्द है इसका
पुरुष-वाचक शब्द है सुमित्र = सु + मित्र
अर्थात् अच्छा मित्र। अच्छा-मित्र वह है

जो मनुष्य को कल्याण पथ में लगा सके।
मनुष्य का परम कल्याण है प्रभु
भक्ति में। इस प्रकार सुमित्रा ही वह
जो मनुष्य को भागवत भक्ति में
लगावे। भक्ति संसार में भगवान से मा
एवं प्रभु के भक्त की खानि भागवत देवी
सुमित्रा की स्वयं की मान्यता है कि
वही सफल और सौभाग्य शालिनी
माता है जिसका पुत्र राम भगत है

"पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुतु होई॥
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी। राम बिमुख सुत तें हित जानी॥

और जननी के उपरोक्त मान्यता का प्रमाण देकर
पड़ता है अपना स्वभाव राम से लखन ने कहे हैं"

गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥

सुमित्रा माता अपने इस मान्यता का परिचय
देती हैं दो पुत्र सपूत- प्रथम तो वनगमन
के समय राम लखन के सुरक्षा सुविधा हेतु
को तुरत करके पुत्र लक्ष्मण को

प्रभु की सेवा के लिये वन के सारे कष्टों को
सहर्ष स्वीकार कर भी वन साथ आते है।
अपूर्व देवर। दूसरे उपदेश देती है।
रागु रोषु इरिषा मदु मोहू। जनि सपनेहुँ इन्ह के बस होहू।।
सकल प्रकार विकार बिहाई। मन क्रम बचन करेहु सेवकाई।।
दूसरे जब पवन-सुत के मुख से लखन की
मूर्छा की खबर सुनकर विकल हो जाता है
उस का मातृ-हृदय किन्तु दूसरे ही क्षण
अपने दुख को रोककर वे लघु पुत्र
शत्रुघ्न जी को यह कहकर जाने को प्रेरित कर
देती है कि विपत्ति काल में परदेश में
भाई से बिछुड़ कर अकेले हो गये है
अतः तुम पवन सुत के साथ ही जाओ
माता के आदेश पर शत्रुघ्न जी सहर्ष
उठकर खड़े हो जाते है। किन्तु वे
यह सब स्वाभाविक है। सब ही राम
की सेवा में एक अपूर्व रचना है पर
दूसरी अपनी सीता को निरादर करने को
तैयार है देखकर हृदय का ... ओर
भरत जी अपनी माता का ... होता है।

गये। तब मारुत ने उन सब को
समझा कर सचेत किया –

सुनि रन घायल लखन परे हैं।
स्वामिकाज संग्राम सुभट सों लोहे ललकारि लरे हैं॥ 1
सुवन-सोक, संतोष सुमित्रहि, रघुपति-भगति बरे हैं।
छिन-छिन गात सुखात, छिनहिं छिन हुलसत होत हरे हैं॥ 2
कपि सौं कहति सुभाय, अंब के अंबक अंबु भरे हैं।
रघुनंदन बिनु बंधु कुअवसर, जद्यपि धनु दुसरे हैं॥ 3
तात! जाहु कपि संग, रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं।
प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे जनु बिधिबस सुढर ढरे हैं॥ 4
अंब-अनुजगति लखि पवनज-भरतादि गलानि गरे हैं।
तुलसी सब समुझाइ मातु तेहि समय सचेत करे हैं॥ 5

(गीतावली ६/१३)

इस प्रकार सुमित्रा जी का धैर्य और त्याग
अनुपम है।

जननी मनुष्य की प्रथम आचार्या कही
जाती है। लक्ष्मण-शत्रुघ्न ~~की~~ राम के अंश
थे लक्ष्मण जी प्रभु-चरणों में सहज
स्नेह है आजन्म रहे हैं तब अतएव सुमित्रा
जी ही आचार्य- स्वरूप माता की कारण

सेवक लक्ष्मण जी के श्री राम सेवक होने की उत्कट इच्छा थी कि वन साथ ले जाने के लिये श्री राम से प्रार्थना करते समय अति विनीत किंतु स्पष्ट शब्दों में ये श्री राम सेवक होते हैं ~~[illegible]~~ मन क्रम बचन चरन रत होई। कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई॥ (2-72)

सुमित्रा जी लखन लाल को उपदेश देते हुए कहती हैं तुम्हरेहिं भाग राम बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥ (2-75) उनको रामायण के पात्रों का उद्देश्य पूरा [illegible] ही दीखता है यानि लक्ष्मण जी के लिये ही जा रहे हैं — इस तरह लक्ष्मण [illegible] शेष नाग [illegible] के अंश हैं अतः वन में दुष्ट राक्षसों का संहार कर पृथ्वी का भार दूर करने में इस तरह [illegible] लखन के सिर का भार [illegible] दूसरे [illegible] अयोध्या में श्री राम की सेवा के लिये अनेक

1794

भक्त शरण एवं सेवक सदैव तत्पर
रहने के कारण सारी सेवाओं का
सुयोग लखन को मिल ही नहीं पाता
था किन्तु वह भी तो सिर्फ राम ही
नहीं उनकी अर्द्धांगिनी यानि
सीता जी की सारी सेवाओं का
सौभाग्य लखन लाल को ही मिलता
सदैव मिलता था।

सुमित्रा अम्बा भी भाग्य
समझती हैं कि लक्ष्मण की
राम की सेवा में लगा रहता है। लक्ष्मण
को उन्होंने केवल राम सेवा के ही
प्रकट किया है। सुपुत्र एवं
वनवास में (वाल्मीकि २)

महाराज दशरथ की द्वितीय
राजमहिषी होने पर भी बिलकुल ही
गर्व नहीं थी तनिक तो दूसरे दास दासियों
होने पर भी इन्होंने अपने हाथों

से चौदह बरस तक जब कि यह वनवासियों की तरह रहेंगे - यह इनका राज्य है ए ने का औचित्य बताती है
"धो के चाह सुमित्रा सुत। मनि मय ... लखन औलिये" (२-८)

राज-भवन के भीतर की सारी व्यवस्था इनके ही अधीन थी। श्री राम भी इनको बहुत प्यार करते थे। वन में प्रवेश करते ही इनकी खोज करते रहते थे। श्री राम के विरह विलाप में कौसल्या जी कहती हैं

"प्रातु को भोर, गौर सों, माई।
बूझत हौं न बिहँसि मेरे रघुबर
कहाँ रे! सुमित्रा माता?"
(गीतावली २-५१)

लक्ष्मण को उपदेश देती हुई कहती हैं कि तुम्हारी राम-सेवा इतनी पूरी हो कि वन में राम को परिवार यहाँ सके। वि. माता पिता की त्रुटि यानि अभाव

(1796)

बिलकुल याद ही नहीं आने देवें एवं
श्रीसीतारामजी के चरणों में नित्य नयी
प्रीति रहने का आशीर्वाद भी दिया

उपदेसु यहु जेहिं तात तुम्हरे राम सिय सुख पावहीं।
पितु मातु प्रिय परिवार पुर सुख सुरति बन बिसरावहीं॥
तुलसी प्रभुहि सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिस दई।
रति होउ अबिरल अमल सिय रघुबीर पद नित नित नई॥
(२-७५)

सुमित्रा महान विदुषी थी
श्री राम के शील्य। को बहुत सम्मान
एवं प्रेम करती। राम के वन गमन
के बाद कौशल्या जब श्री राम के वियोग
में विह्वल होकर तड़पती है तब
सुमित्रा उन्हें विविध तरीकों
से समझा कर सांत्वना देती हैं।
श्री राम स्वामी हैं हितकारी हैं लीला
को हेतु लेकर दीनजनों के लिये ही
वन गये हैं। वे देवताओं के भी देवता
है निरख के कोई ऐसा नहीं जो

उनको कष्ट है। अबुद्धि बुरी होने पर आप उनको यहाँ आने कह देवें भी अपनी सपत्नी को सत्यवाद जुटि उनका अदित-सद्भाव होने के है। जीजी शब्द का प्रयोग कर उनको आश्वस्त करती है—

कीजै कहा जीजी जू!
सुमित्रा परि पायँ कहै,
तुलसी सहावै विधि
सोई सहियतु है॥
(कवितावली २/४)

विश्व में प्रेम भक्ति बढ़ाने के लिये सुमित्रा जैसी जननी बड़ी आवश्यक है।

(1798)

पे. सं. 68

31/8/83

## प्रतापभानु

हमारे भारत में सदा से ऋषि
मुनियों ने कथा ग्रन्थ लिख
कल्पनाओं के द्वारा तत्वों को समझाने
की प्रथा चला रखी है। उसी परिपाटी
को तुलसी दास जी ने भी यह ग्रन्थ बनाया
है। प्रताप भानु की यह कथा ग्रन्थ के
उपाख्यानों में वर्णित पायी जाती।

भावी मनुष्य से स्वयं चुक जाया करती
भावी के वश ही सब मनुष्य का
नहीं कर जाता है। भवितव्यता टलती
नहीं है। होकर ही रहती है। जैसी होनी
होती है वैसी ही परिस्थितियाँ पैदा
हो जाती है; या तो स्वयं वहाँ पहुँच
जाती है अथवा मनुष्य आदि
जीव को ही वहाँ खींच कर ले जाती है
वैसी ही बुद्धि कर देती है वैसे ही
विचार पैदा कर देती है, स्पष्ट झूठे
भी सच्चे भासने लगते हैं मनुष्य

फूँके में ऊँचे हो जाता है कुछ क्रोध में गिर पड़ता है।

तुलसी जसि भवतव्यता तैसी मिलइ सहाई।
आपुनु आवइ ताहि पहिं ताहि तहाँ लै जाइ॥
(दो॰ - १५९)

राजा प्रतापभानु आखेट के लिये अपने दलबल के साथ विन्ध्याचल को जाते हैं - एक अति विशाल मोटे ताजे सुअर को सन्धानता है, सुअर वायु-गति से भाग और जंगल की ओर भागता है एक ऐसे स्थल पर पहुँचे हैं जहाँ सब नहीं जा सकते सारा समाज भी छूट जाता पर धीर वीर राजा इस बात की परवाह तक न कर अकेला ही उस सुअर के पीछे अपने घोड़े को दौड़ाये लिये चला जा रहा है। यह देखकर वह सुअर एक गंभीर गुफा में प्रवेश कर जाता है जहाँ राजा नहीं जा पाया। थका मांदा राजा प्यास से तड़फता है। अपने और घोड़े के लिये पानी की खोज में

1800

भटकते भटकते एक कपटी छद्म मुनि वेश धारी के पास पहुंच जाता है। यह मुनि किसी समय युद्ध में प्रतापभानु से पराजित हो स्वाभिमान रक्षा के लिये आत्मसमर्पण न कर राज्य छोड़कर वन में मुनि वेश में रहने लगता है। यह सुअर भी एक निशिचर है जो इच्छानुसार शरीर धारण करने की सामर्थ्य रखता। किसी समय इस निशाचर के दस भाई और एक सौ पुत्रों को प्रताप भानु मार चुका है। इस प्रकार यह कपटी मुनि एवं यह निशाचर प्रताप भानु के बैरी हैं और उससे बदला लेने के लिये आपस में मित्र बने हुए हैं। यहां होनी अपना रंग दिखाती है दोनों ही शत्रुओं के पास घोर वन में राजा को पहुंचा देती है और दोनों ही राजा को पहचान जाते हैं पर बेचारा राजा उन्हें नहीं पहचान पाता। राजा की वीरता को दोनों ही भली भांति जानते हैं अतः अपनी योजना को सफल करने में छल कपट

को सहारा लेते हैं।

रिपु तेजसी अकेल अपि लघु करि गनिअ न ताहु।
अजहुँ देत दुख रवि ससिहि सिर अवसेषित राहु॥
(१-१७०)

राजा चतुर और विवेकी है। अपना जान के घात अपना असली नाम नहीं बताकर प्रतापभानु का सचिव कह कर परिचय देता है किंतु कपटी मुनि राजा का नाश करने के लिये अपना परिचय सृष्टि के आदि काल से उत्पन्न एकतनु मुनि कहकर देता है - राजा का विवेक रफूचक्कर हो जाता है और उसके सारे कथनों को सत्य मान लेता है। मंत्र-मुग्ध सा हो जाता है - ~~उसका विवेक हवा सा उड़ जाता है किन्तु~~

राउ तृषित नहिं सो पहिचाना। देखि सुबेष महामुनि जाना॥
(१-[illegible])

राजा ने अपने बाहुबल से सारे विश्व को अपने वश में कर रखा था। एक राजा की उत्तम सफलता (achievement) उसे प्राप्त हो चुकी थी फिर भी अभी उसकी

1802

लालच का अंत नहीं हुआ था लोभ
बढ़ता ही जाता था। विवेक का नष्ट
कर दिया था इस लोभ ने। कपटी
मुनि को सर्व समर्थ प्रतापी सिद्ध
मानकर अपने ~~...~~ को ~~...~~
अन्तःस्थल के भीतर छिपी हुई कामना
को उस मुनि से वरदान रूप में मांग
बैठता है - अपना अमरत्व ना[illegible] है

जरा मरन दुख रहित तनु समर जितै जनि कोउ।
एकछत्र रिपुहीन महि राज कलप सत होउ॥(1-164

फिर क्या था, कपटी मुनि को मनचाहा
मौका मिल गया। तुरन्त एवमस्तु कह
कर उसकी उपासना लेता है और अपनी
ओर से चलाकर ही बताता है, ऐसा
और रहस्य भी जिसका किसी पर भी प्रकट
करने से तेरा नाश अवश्यम्भावी है।
राजा के मन में मृत्यु का भय दुकाकर
दुआ फिर कहता है, विप्र शाप के भी तेरे
नाश का कारण है अत: विप्रों को

भोजन कराकर प्रसन्न करो। इससे शिव
हरिहर भी क्रुद्ध होकर तुम्हारा नाश
नहीं कर सकेंगे। विप्रों को वश में करने
की युक्ति बताते हुए कहता है नित्य
हजारों को ~~[illegible]~~ सपरिवार भोजन के
लिये निमंत्रण देते रहो - जो तुम्हारे
भोजन कर लेंगे ~~फिर~~ वे सब के सब एवं
उनके यहाँ भी भोजन करने वाले
ब्राह्मण सब तुम्हारे वश में रहेंगे।
विवेकहीन हो जाने के कारण इस
मनहोती बात को भी सत्य मान लेता
है। फिर कहता है कपटी मुनि मैं निज
मैं रसोई बनाऊँगा और तुम परोसना
मैं तपबल से तुम्हें घोड़े सहित ~~सोते~~
सोये हुए को ही तेरे महल में पहुँचा
दूंगा। फिर तपबल से तुम्हारे
पुरोहित को हर कर ले जाऊँगा
और स्वयं तेरे उपरोहित का रूप
धर कर तुझसे एकांत में मिलकर
इन सब बातों का उल्लेख करूंगा।

~~मैं~~ इस मायावी राक्षस की माया प्रभाव को कपटी मुनि भलि भाँति जानता था। ~~वह~~ मैं आज तक किसी से नहीं मिला, और न मेरा परिचय ही जानता है किन्तु तुम मुझे अति प्रिय हो, अतः मैं तुम्हारी भलाई के लिये, अपने इस व्रत को तोड़ कर तुम्हारा सब काम करूँगा।

विवेकहीन राजा को इस मुनि पर इतना अधिक विश्वास हो गया था कि वह भी विचार कि जिससे अब तक कभी मुलाकात तक नहीं हुई वह मेरे लिये अपने आजन्म के नियमों को क्यों तोड़ेगा। इतनी साधारण सी तर्क मन में नहीं करता है

मायावी कालकेतु, अपनी माया द्वारा मुनि के कहे मुताबिक सब कार्य करता है। पीछे रात को राजा स्वयं को रानी के पास सोया हुआ पाकर

मुद्र, भेद, खुले के लिए

राजा मुनी की महिमा की मन ही मन
सराहना करता है एवं मुनी को दिये
गये आश्वासन के अनुसार घोड़े पर
चढ़ कर चुपचाप बाहर चला जाता है
ताकि ~~किसी~~ राजा कब और कैसे चला गया
जबकि प्रहरियों को ~~महल~~ रनिवास में किसी
को पता नहीं चला। घोड़ा अस्तबल
में कब और किसने बांधा यह भी
घुड़साल के किसी भी कर्मचारी को पता
नहीं। इस पर शंका होने से भेद खुल
न जाये। दिन उगाने घोड़े पर सवार हो
कर राज द्वार पर आता है फिर समय
पाकर ~~...~~ उपरोहित वेश में
काल कर आकर एकांत में राजा को
ग्रह शास्त्र की चर्चा वर्णन करता है।
अब तो राजा को मुनि की महिमा पर
एकदम दृढ़ विश्वास हो गया। फिर क्या
था भोजनागार विप्र निमंत्रित होकर
भोजन के लिये बैठते हैं राजा स्वयं
अपने हाथों परोसता है।

1806

इधर पुरोहित वेशधारी कालकेतु ~~भोजन में~~ विप्रमांस मिश्रित कर रसोई तैयार करता है। विप्र भोजन प्रारम्भ करने जा रहे हैं कि आकाशवाणी होती है "हे विप्रो भोजन नहीं खाना इसमें विप्र मांस मिश्रित है"। तुरन्त विप्र गण उठ पड़ते हैं और क्रुद्ध होकर शाप दे डालते हैं 'राजा तुमने ह्र
धर्म नाश करने का प्रयत्न किया अतः

होकर राक्षस

एक साल के अंदर सपरिवार तुम्हारा नाश हो जाये। कुल में कोई पिंडदान करने वाला भी नहीं बचे।'

* फिर आकाशवाणी होती है "विप्रो तुमने विचार पूर्वक शाप नहीं दिया - राजा का कोई दोष नहीं है"। उपस्थित सब अचम्भे में पड़ गये - राजा रसोई घर जाता है वहां न तो पुरोहित ही है और न कोई रसोई ही बनी है। तब राजा की आँखें खुलती हैं एवं विप्रों को जाकर गत काल की सारी घटना

* "जाइ निसाचर होहु नृप मूढ़ सहित परिवार" (१-१७३)
" "संवत मध्य नास तव होऊ। जलदाता न रहिहि कुल कोऊ" (१-१७४)